दयानन्द भार्गव

ऋचा-रहस्य

(ऋग्वेद के पन्द्रह रहस्यात्मक भाव-पूर्ण सूक्तों का पद्यानुवाद)

डॉ० दयानन्द भार्गव
प्राचार्य
श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू

श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू
१९७५

सूचीपत्र

वाणि !

विश्व-विग्रहा वैखरी गिरा
तुम्हीं से पाते हैं आकार
आदि सत्ताभिव्यक्ति सस्पन्द !
प्राण के सत्, चित्, औ आनन्द ।।१।।

सिसृक्षा की किरणों के सूत्र
ग्रहण कर बुनतीं संसृति-जाल !
ब्रह्म का बृंहण करती तुम्हीं
जोड़ती तुम्हीं विश्व की माल ।।२।।

जागृति स्वप्न, स्वप्न जागृति
स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से स्थूल
सृजन से नाद, नाद से सृजन
गिरे ! तुम ही हो संसृति मूल ।।३।।

अकारादि हकार-पर्यन्त
मातृका के हैं जितने वर्ण
अहं की छाया में आश्वस्त
राग, लय, छन्द ताल के पर्ण ।।४।।

हमारे हेतु सृष्टि का छोर
वहीं है जहाँ दृष्टि का अन्त
किन्तु तुम अम्बर के उस पार
परस लेती हो गिरे ! दिगन्त ।।५।।

ज्ञान-गरिमा से अक्षर-तत्त्व
हुआ मुखरित जब पहली बार
तमस की जड़ता भागी दूर
मन्त्र से हुआ सत्त्व-सञ्चार ।।६।।

तुम्हारी नाद-रश्मि के सूत्र
ग्रहण कर ज्ञान और विज्ञान
जीव से जीवान्तर-संक्रान्त
हुआ करते मिटता अज्ञान ।।७।।

जीव के श्वास और निश्वास
मौन हो करते सोऽहं नाद
वही सोऽहं जब होता मुखर
हंस-वाहन बनता साह्लाद ।।८।।

अभी तक गूंज रहा है गिरे !
आम्भृणि !! सूक्तों में तव घोष
क्रान्त-दृष्टि देती हूँ उसे
कि जिस पर होती सानुक्रोश ।।९।।

हो रही द्यौ-पृथ्वी में व्याप्त
नीर-निधि-तल से उठ कर वाणि !
व्योम तक गतिमय हो निर्बाध
वात-सम बहती हो कल्याणि ।।१०।।

तुम्हारा वह स्वचिन्मय रूप
कि जिससे ओतप्रोत है धरा
परम अव्यक्त. शब्द से परे
जिसे ऋषि-गण कहते हैं परा ।।११।।

जहाँ पर नहीं व्यष्टि का भाव
समष्टि का ही परम प्रकाश
जहाँ तक परा गिरा है सूक्ष्म
वहीं तक है केवल आकाश ।।१२।।

प्रणामाञ्जलि परा के हेतु
परा के हेतु श्रद्धा-फूल !
कि जिसके लिये ज्ञान-विज्ञान
कौन जानेगा उसके कूल ।।१३।।

—दयानन्द भार्गव

ऋचा-रहस्य

आ नो भद्राः ऋतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासो अपरीतास उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥ १ ॥
देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो नि वर्तताम् ।
देवानां सख्यमुप सेदिमा वयं देवा न आयुः प्र तिरन्तु जीवसे ॥ २ ॥
तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयं भगं मित्रमदितिं दक्षमस्रिधम् ।
अर्यमणं वरुणं सोममश्विना सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥ ३ ॥

भद्र सङ्कल्प चतुर्दिक् से हों हमको प्राप्त अविकृत, विघ्न-रहित, प्रस्फुटित ।
देवगण सदा हमारी वृद्धि- -हेतु बन रक्षक दें सान्निध्य ॥१॥

ऋजु-प्रिय देवों की कल्याण- -पूर्ण मति, कृपा चतुर्दिक् रहे ।
हमे हो देव-मैत्री उपलब्ध देव दें आयुष् जीवन हेतु ॥२॥

पुरातन वाणी से आहूत मित्र, भग, अदिति दक्ष औ मरुत्
अयमा, वरुण, सोम, अश्विनी सुभग शारदा करे सुखदान ॥३॥

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजं तन्माता पृथिवी तत् पिता द्यौः।
तद् ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम् ॥ ४ ॥

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ ५ ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ ६ ॥

पृषदश्वा मरुतः पृश्निमातरः शुभंयावानो विदथेषु जग्मयः।
अग्निजिह्वा मनवः सूरचक्षसो विश्वे नो देवा अवसा गमन्निह ॥ ७ ॥

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ ८ ॥

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः ॥ ९ ॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१०॥

वायु औषधि बने सुखरूप
तथा माँ भूमि, पिता आकाश
सुखद सोम-प्रद हों पाषाण
ध्येय अश्विनी ! सुनो यह विनय ।।४।।

जगत् के ईश, अचर के पति
विनय-संतुष्ट उसी का करते हम आह्वान
कि सम्पद्-वृद्धि-हेतु संलग्न
बनें पूषा रक्षक अविकार ।।५।।

बहुल-यश इन्द्र स्वस्तियुत बनें
स्वस्तियुत हों पूषा सर्वज्ञ
अ-प्रतिहत-नेमि तार्क्ष्य हों स्वस्ति
बृहस्पति स्वस्ति-दान दें हमें ।।६।।

बिन्दु-युत-अश्वारोही मरुत्
पृश्नि-सुत शस्त-गति ऋतु-गामी
अग्निजिह्वा, मनु, रवि-सम-दीप्त
देवगण यहाँ आयें रक्षार्थ ।।७।।

देव ! हम सुनें कान से भद्र
भद्र देखें आँखों से पूज्य !!
स्वस्थ स्तुति-रत स्थिराङ्ग हम देव-
-दत्त आयुष् भोगें सानन्द ।।८।।

शरद् का शतक नियत है काल
देव ! जिसमें तनु होते जीर्ण
हमारे सुत बनते हैं पिता
न काटो आयुष् यात्रा-मध्य ।।९।।

अदिति द्यौ, अन्तरिक्ष है अदिति
अदिति माँ, वही पिता, वह पुत्र
अदिति सब देव, पञ्चजन वही
अदिति ही जन्म और सन्तति ।।१०।।

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ २ ॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः ।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्ते यत्र गवां निहिता सप्त नाम ॥ ३ ॥

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति ।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित् को विद्वांसमुप गात् प्रष्टुमेतत् ॥ ४ ॥

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि ।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ५ ॥

अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ६ ॥

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः ।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ७ ॥

इस तरुण वृद्ध होता का
भ्राता तृतीय की पीठ स-घृत, मैंने देखा
उसका भ्राता मध्यम है खाऊ
यहां सात पुत्र वाले मनुष्य के स्वामी को ॥१॥

वे एक चक्र वाले रथ में जोड़ते सात
वह अजर अनश्वर चक्र त्रिनाभि जहां
एकाकी घोड़ा सात नाम वाला ढोता
वहां ये सकल भुवन हैं टिके हुए उसके अन्दर ॥२॥

ये सात अधिष्ठाता जो इस सत-
हैं सात भगिनियां साथ-साथ इसमें चढ़ती
पहिये रथ के, सात अश्व ढोने वाले
हैं सात नाम गौओं के इसमें टिके हुए ॥३॥

किसने देखा—पहले उत्पन्न हुआ जो था
पृथ्वी से प्राण, खून जन्में; आत्मा किससे
कैसे हड्डी से रहित धारता हड़ियल को ?
है कौन कि यह पूछने जाये विद्वानों ? ॥४॥

अप्रौढ बुद्धि अनजानचित्त मैं, देवों के
वत्स के उढ़ाने के हेतु थे कौन सप्त
पद कहां निहित हैं, पूछ रहा हूँ यह सबसे
तन्तु, कवियों ने जिन्हें बुना, सबके निवास ॥५॥

मैं नहीं जानता, जिज्ञासु हो पूछ रहा
है कौन अजन्मा-रूप एक, ऐसा जिसने
कवियों से, विद्वानों से, मैं तो हूँ अजान
इन छह लोकों को एकाकी ने धारा है ॥६॥

बतलाये, हो यह ज्ञात जिसे, यहीं हमें
गौएं अपने सिरे से हैं दूध निकाल रहीं
इस तरुण विहग का निहित कहां है चरण स्थिर ?
इसके स्वरूप को धार उदक पीती पद से ॥७॥

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद् गर्भो वृजनीष्वन्तः ।
अमीमेद् वत्सो अनु गामपश्यत् विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥

तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥१०॥

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य ।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥११॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम् ।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितम् ॥१२॥

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने तस्मिन्ना तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न शीर्यते सनाभिः ॥१३॥

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति ।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा ॥१४॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद् यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥१५॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥१६॥

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात् ।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्तः ॥१७॥

अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।
कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥१८॥

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥१९॥

माता ने धी से ऋत के लिये पिता पूजा
किन्तु उसने उसका मन पहले जान लिया
वह गर्भेच्छु भर गई गर्भ-रस से एवं
सन्नमस्कार वाणी-विनिमय सब करते थे ॥८॥

माता दक्षिणा-धुरी में जोती गई, गर्भ
नीरद के अन्तस्तल में जाकर ठहर गया
वत्स ने रंभाकर देखा उस धेनु को जो
तीनों योजन में सकल रूप धारण करती ॥९॥

तीनों माताओं तीन पिताओं को धारे
वह एकाकी ऊर्ध्वस्थित है, विश्रान्त नहीं
इस गगन-पृष्ठ पर सर्व-सुगम वाणी द्वारा
मन्त्रणा कर रहे, किन्तु सबको ज्ञात नहीं ॥१०॥

वह ऋत का चक्र, अरे जिसके बारह, द्यौ के
घूमता चतुर्दिक्, कभी न होता जीर्ण तथा
हैं उसी चक्र पर टिके हुए हे अग्नि ! यहां
सात सौ बीस, जोड़े बनकर, तेरे आत्मज ॥११॥

है पञ्चपाद द्वादशमुख पिता पुरीषिन् जो
द्यौ के परार्ध में रहता, ऐसा कहते हैं
दूसरे उसे कहते अर्पित, दूसरे अर्ध में जो रहता
छह अरे सात पहियों वाले रथ पर शोभित ॥१२॥

वह चक्र घूमता, अरे हैं जिसके पांच, वहीं
ये सकल भुवन हैं टिके हुए उस पहिये पर
वह भार पड़े पर भी इसका तपता न अक्ष
नाभि न कभी इसकी होती है जीर्ण शीर्ण ॥१३॥

यह चक्र अजर घूमता नेमि जिसकी समतल
उत्तर-तल पर दस जुड़े हुए इसको ढोते
रवि-चक्षु रजस् से घिरा हुआ है घूम रहा
हैं टिके हुए ये सकल भुवन उसके अन्दर ॥१४॥

सातवां साथ उत्पन्न हुओं में एक-ज है
छह हैं इनमें जुड़वा ऋषि देवों से प्रसूत
हैं उनके इष्ट रखे धामों में पृथक् पृथक्
रूपशः पृथक् वे स्थिर के लिये घूमते हैं ॥१५॥

स्त्रियां पुरुष हैं सत्य, उन्होंने मुझे कहा
आंखों वाला ही इसे देखता, न कि अन्ध
वह पुत्र कि जो है कवि जानता है इसको
जो इसे जानता है, वह पिता पिता का भी ॥१६॥

नीचे आगे के पद से ऊपर पीछे के
वत्स को धारती हुई गऊ उठ खड़ी हुई
वह कहां गयी ? आधे पथ से किसको लौटी ?
वह कहां वत्स जनती ? न यूथ के बीच कहीं ॥१७॥

जो इसके पिता अवर को परसे युक्त, तथा
पर को संयुक्त अवर से जाने, वह मानों
कवि है, पर कौन बता सकता है इस जग में
मन देव कहां से पैदा होकर आया है ॥१८॥

अधोगामी कहलाते ऊर्ध्वगमनशाली
कहलाते ऊर्ध्वगमनशाली भी अधोगामी
हे सोम ! इन्द्र के सहित बनाये जो तुमने
वे धारण करते रजस् धुरा में युक्त-सदृश ॥१९॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥२०॥

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२१॥

यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥२२॥

यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितं त्रैष्टुभाद् वा त्रैष्टुभं निरतक्षत ।
यद् वा जगज्जगत्याहितं पदं य इत् तद् विदुस्ते अमृतत्वमानशुः ॥२३॥

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम् ।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥२४॥

जगता सिन्धुं दिव्यस्तभायद् रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत् ।
गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥२५॥

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचम् ॥२६॥

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाभ्यागात् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥२७॥

गौरमीमेदनु वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥२८॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता ।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यं विद्युद् भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥२९॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम् ।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥३०॥

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥३१॥

दो साथ-साथ रहने वाले साथी, सुन्दर पंखों वाले पंछी समान तरु पर बैठे
उनमें से एक स्वादु पिप्पल-फल खाता है दूसरा बिना कुछ भी खाये देखता-मात्र ॥२०॥

वे सुन्दर पंखों वाले पंछी जहां सतत अमृत का भाग सभी में मुखर किया करते
हैं वही विश्व का स्वामी भुवनों का रक्षक वह मुझ अप्रौढ़मन वाले में आविष्ट हुआ ॥२१॥

जिस तरु पर मधु खाने वाले, सुन्दर पंखों वाले, पंछी रहते, सब पर देते हैं जन्म
उसके फल का अग्रिम स्वादु बतलाते हैं जो नहीं पिता को जाने, उसे न खा पाता ॥२२॥

जो था गायत्र निहित गायत्री में अथवा त्रैष्टुभ में जिस त्रैष्टुभ का था निर्माण हुआ
अथवा जो जगत् निहित था जगती में, जो भी जानते इसे वे ही अमृत-पद पाते हैं ॥२३॥

गायत्री से ढालता अर्चना, साम अर्चना से, त्रैष्टुभ से वाणी को
वाणी को वाणी द्विपद चतुष्पद से एवं अक्षर से सप्तवाणियों को ढालता है वह ॥२४॥

जगती से सिन्धु किया सुस्थिर अम्बरतल में देखा उसने दैवत आदित्य रथन्तर में
गायत्री की समिधायें तीन कही जाती इसलिये बढ़ा वह महिमा से औ तेजस् से ॥२५॥

करता आह्वान सु-दुग्धी उस धेनु का मैं ग्वाला सु-हस्त उसका दोहन कर सके ताकि
सविता को उत्तम रस स्वीकार हमारा हो ऊष्मा उसकी बढ़ सके, घोषणा यह मेरी ॥२६॥

वसुओं की वसुपत्नी हिंकार-शब्द करती वत्स को चाहती हुई चित्त में आती है
यह अहन्या गौअश्विनियों को दे दुग्ध तथा महती सौभाग्य-सम्पदा देने हेतु बढ़े ॥२७॥

आंखें मूंदे वत्स के लिये गौ रंभा रही मस्तक पर हिङ्कृति करती कि वह भी रंभावे
सस्नेह गरम थन पर उसका मुख बुला रही है रंभा रही मृदु और दूध भी पिला रही ॥२८॥

यह रंभा रहा है जिसने घेरा है गौ को वह रंभा रही है मृदु स्वर में मेघाश्रय से
चेतना-शक्ति से करती वह निर्मित मानव विद्युत् जैसी अपना आवरण उठाती है ॥२९॥

यह जीव प्राणयुत् तीव्रगति औ कम्पमान दृढतया गृहों के मध्य स्थित विश्रामशील
यह जीव मृतार्पित स्वधा-शक्ति से चरणशील है स्वयं अमर्त्य परन्तु मर्त्य-सयोनि है ॥३०॥

मैंने देखा वह गोप, न जो थकता गिरता आता जाता जो विचरण करता मार्गों से
वह धारण करता व्यष्टि-समष्टि दोनों को वह बारम्बार चरण करता इन लोकों में ॥३१॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश ॥३२॥

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम् ।
उत्तानयोश्चम्वो३ र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥३३॥

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥३४॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥३५॥

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि ।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः ॥३६॥

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद् वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥३७॥

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य १ न्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥३८॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥३९॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम ।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥४०॥

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥४१॥

तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति ॥४२॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण ।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ॥४३॥

जिसने निर्माण किया इसका जानता न वह इसको जिसने देखा यह उससे गुप्त रहा
माता की योनि में था अन्तर्निहित अभी दुर्भद्रभाव को बहुप्रजा हो गया प्राप्त ।।३२।।

द्यौ पिता जन्मदाता मेरी है यहां बन्धु यह नाभि, मही महती यह मेरी माता है
दो उठे कपालों में है योनि, यहां पिता दुहिता का गर्भ इसी में स्थापित करता है ।।३३।।

मैं पूछ रहा तुमसे पृथ्वी का परम अन्त मैं पूछ रहा कि कहां भुवन की नाभि है
मैं पूछ रहा तुमसे कि अश्व का रेतस् क्या मैं पूछ रहा क्या है वाणी का परम व्योम ।।३४।।

यह वेदी ही है इस पृथ्वी का परम अन्त यह यज्ञ भुवन की नाभि है, यह सोम तथा
जो बरस रहा है यहां अश्व का रेतस् है है ब्रह्मा ही यह इस वाणी का परम व्योम ।।३५।।

है सात अर्धगर्भा रेतस् इस संसृति का हैं उनके कर्म विष्णु के विविध विधानों से
वे बुद्धिमान् बुद्धि औ मन से युक्त तथा सर्वव्यापी सर्वतः हमें घेरे रहते ।।३६।।

मैं नहीं जानता यदि यह सब कुछ मैं ही हूं मनसे संयुक्त रहस्यात्मक विचार करता
जब ऋत का प्रथम-ज दर्शन मुझे प्राप्त होता मैं इस वाणी का भाग भोगता हूँ तुरन्त ।।३७।।

ऊपर नीचे आगे पीछे जाता अमर्त्य जो स्वधा-गृहीत तथा सहयोनि मर्त्य का है
वे सदा पृथक् विपरीतदिशा में जाते दो एक को जानते, नहीं जानते हैं पर को ।।३८।।

है ऋक् का अक्षर परम व्योम वह कि जिसमें सारे देवता अधिष्ठित रहते आये हैं
जो उसे न जाने ऋचा करेगी क्या उसका जो उसे जानते वे ही हैं ये परिपूर्ण ।।३९।।

तुम सुन्दर चरागाह के चारे को पाकर भगवती बनो, भगवन्त बनें हम भी धेनो !
हे अहन्ये ! तृण सर्वदा सदा खाओ, विचरण कर सभी ओर पानी पीओ निर्मल पवित्र ।।४०।।

गौरी करती जल का निर्माण रंभाती है जो एकपदी द्विपदी है अथवा चतुष्पदी
वह अष्टपदी अथवा नवपदी बन गयी है वह सहस्राक्षरा परम व्योम में अधिष्ठिता ।।४१।।

उससे समुद्र प्रस्रवित हो रहे हैं, उससे ये चारों दिशा-लोक जीवन पाया करते
उससे यह अक्षर द्रवित हो रहा विश्व उसी पर आश्रित है ।।४२।।

देखी मैंने गोमय से उठती धूम दूर उस साधन से हो गया हेतु का ज्ञान मुझे
वीरों ने जो थीं वृषभ-सोम बिन्दु-संयुत उसको रांधी, वे आदि-विधान धर्म के थे ।।४३।।

त्रयः केशिनं ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् ।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥४४॥

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥४५॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४६॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥४७॥

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥४८॥

यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः ॥४९॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥५०॥

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः ।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥५१॥

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम् ।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि ॥५२॥

तीन केशधारी ऋतु के अनुसार देखते संवत्सर में उनमें से बोता है एक
एक देखता विश्व स्वकीया शक्ति से दिखता है एक का मार्ग-मात्र, पर रूप नहीं ।।४४।।

वाणी के चार सुसीमित पद हैं, उनको जो ब्रह्मज्ञ मनीषी हैं वे ही जानते, क्योंकि
उनमें से तीन गुहा में निहित न गति करते वाणी का चौथा पद ही मानव बोल रहे ।।४५।।

कहते हैं उसे वरुण, अग्नि और इन्द्र, मित्र औ वह ही दिव्य सुवर्ण गरुड़ कहलाता है
एक ही अनेक प्रकारों से सत् को ऋषिगण बतलाते हैं यम, अग्नि, मातरिश्वा कहते ।।४६।।

है मार्ग उतरने का काला, पंछी सुन्दर पंखों वाले, जल धारे स्वर्ग उड़े जाते
वे ऋत-स्थान से बारम्बार लौटते हैं घृत से हो जाती है गीली यह वसुन्धरा ।।४७।।

है एक चक्र जिसके घेरे बारह हैं औ है तीन अक्ष, है कौन कि उसे जानता हो
तीन सौ साठ उसमें हैं अरे समर्पित जो चलते भी हैं मानों चलते भी नहीं किन्तु ।।४८।।

जो तेरा स्तन परिसुप्त अनन्त सुखप्रद है जिससे सारे वरणीय पदार्थ पालती हो
जानता वसु को, रत्न धारता, देता शुभ पोषण के हेतु सरस्वति ! उसको यहां रखो ।।४९।।

यज्ञ का यज्ञ से देवों ने जो अनुष्ठान था किया, वही था प्रथम धर्मविधि का विधान
वे महिमाशाली प्राप्त स्वर्ग को हुए जहां हैं सृजनशक्ति-सामर्थ्य-युक्त प्राचीन देव ।।५०।।

यह वही उदक ऊपर नीचे जाता दिवसों के साथ साथ
पृथ्वी को बादल तृप्त किया करते एवं अम्बर को तृप्त किया करते हैं अग्नि-वृन्द ।।५१।।

जो दिव्य सुपर्ण बृहत् है वायु-सञ्चारी जल का मूलोद्गम, दरसाने वाला औषधि
वर्षा-ऋतु में वर्षा के द्वारा तृप्ति-कारी उस सरस्वान् को बुला रहा मैं रक्षाहित ।।५२।।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ १ ॥

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ २ ॥

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम् ।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते ॥ ३ ॥

उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ४ ॥

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥ ५ ॥

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥ ६ ॥

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे ॥ ७ ॥

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणाः संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोहब्रह्माणो वि चरन्त्यु त्वे ॥ ८ ॥

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः ॥ ९ ॥

जो प्रथम अग्रणी गिरा नाम देने वाली उच्चरित हुई
जो श्रेष्ठ और जो निष्कलङ्क उसने गुहास्थ को प्रेम द्वारा व्यक्त किया ॥१॥

धीरों ने मन से वाणी का संस्कार किया जिस भांति छलनी से कोई छाने सत्तू को
उसमें मित्रों ने मैत्री का परिचय पाया उनकी वाणी में भद्र लक्ष्मी का निवास ॥२॥

मख द्वारा वाणी के सोपान पार करके ऋषियों में निहित गिरा को वे कर सके प्राप्त
कर प्राप्त उसे वितरित बहुत्र कर दिया पुनः सातों गायक मिल करते उसका नवीकरण ॥३॥

देखते हुए भी नहीं देखता एक गिरा सुनने पर भी है अन्य न उसको सुन पाता
निज देह अन्य को कर देती है व्यक्त वही जिस भांति सुवसना प्रेम-पगी पत्नी पति को ॥४॥

कुछ कहते हैं वह दृढ़ आप्लावित मैत्री में उससे कोई स्पर्धा का भाव नहीं रखता
वन्ध्या गौ से हो कर वंचित करता विचरण उस द्वारा सेवित वाणी है निष्फल अपुष्प ॥५॥

सत्यज्ञ मित्र का परित्याग जो कर देवे वाणी में भी वह भागीदार नहीं होता
जो वह सुनता है, सुनता है वह व्यर्थ गिरा वह पुण्य मार्ग से रह जाता अनभिज्ञ सदा ॥६॥

हैं श्रोत्रवान् और नेत्रवान् सब सखा-वृन्द हैं मनोवेग में वे न किन्तु सबही समान
हैं आमुख-वारि या आकक्ष-वारि कुछ सर कुछ ऐसे जिनमें स्नान व्यक्ति कर सकता है ॥७॥

हैं मनोवेग उनके संस्कृत हृदय-द्वारा ब्रह्मज्ञ मित्र मिलकर करते जो यजन कर्म
कुछ पीछे रहते ज्ञात नहीं ज्ञातव्य जिन्हें कुछ आगे बढ़ते हैं जो कहलाते ज्ञानी ॥८॥

वे जो न बढ़ पाते आगे औ न पीछे न ब्रह्म जिन्हें है ज्ञात और न यज्ञ-कर्म
वे पाप-वृत्ति से वाणी को जकड़े रहते वाणी का ताना-बाना फैलाते अजान ॥९॥

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय ॥१०॥

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उ त्वः ॥११॥

सब मित्र-वृन्द होते प्रसन्न जब मित्र कोई आता यश-पूर्वक जय प्राप्त कर परिषद् में
वह पाप दूर करता, करता उनका पोषण रहता है तत्पर सदा प्रतिस्पर्धार्थं तथा ॥१०॥

पोषक ऋग्वेत्ता करता है कोई पोषण शक्वरी छन्द में गाता है गायक कोई
कोई ब्रह्म सत्ता की विद्या बतलाता कोई बतलाता नियम यज्ञ की मात्र के ॥११॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ।
यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ १ ॥

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक् ।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥ २ ॥

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥ ३ ॥

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ ४ ॥

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे ॥ ५ ॥

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ॥ ६ ॥

न तं विदाथ य इमा जजानाऽन्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चाऽसुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥ ७ ॥

विश्वकर्मा (भौवन)

इन्द्रियों के पिता धीर-मन ने दिया
पूर्व-सीमा बनायी सुदृढ़ और फिर
जन्म जल को तथा तैरते द्वन्द्व को
कर दिया नभ-धरा को प्रथित देव ने ।।१।।

विश्वकर्मा विपुल-चित्त बहु-मुख-महिम
कामना अन्न-युत तुष्ट उनकी जहां
सृष्टि-स्रष्टा निर्देशक परम दृष्टि-युत
है कहाता परम सप्त-ऋषि से परे ।।२।।

जो हमारा पिता और माता-पिता
नाम देता अकेला सुरों को है जो
जो सृजक लोक और धाम को जानता
पूछने दूसरे लोक जाते उसे ।।३।।

वे पुराने ऋषि बन्दिओं की तरह
था जिन्होंने अलंकृत चराचर जगत में
धन यजन कर रहे भूमा द्वारा उसे
सभी प्राणियों को प्रभा से किया ।।४।।

स्वर्ग से जो परे औ धरा से परे
कौन सा वह प्रथम गर्भ धारे सलिल
देवगण से परे दैत्यगण से परे
देवगण देखते हैं परस्पर जहां ।।५।।

वह प्रथम गर्भ धारण किये था सलिल
कि जहां सर्व ब्रह्माण्ड सुस्थिर बना
देवगण सर्व जिसमें समाहित हुए
वह समर्पित हुआ एक अजनाभि में ।।६।।

जन्म जिसने दिया है इन्हें, तुम उसे
धुंद से वे घिरे जल्प करते फिरें
जानते हो नहीं, अन्य वह भिन्न है
जो स्तुति-रत मगर पेट के भक्त हैं ।।७।।

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक् ।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता ॥ १ ॥

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः ।
मन्युं विश ईळत मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् ।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः ।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहावानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः ।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीळाहं स्वा तनूर्बलदेयाय मेहि ॥ ५ ॥

अयं ते अस्म्युप मेह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वधायः ।
मन्यो वज्रिन्नभि मामा ववृत्स्व हनाव दस्यूँरुत बोध्यापेः ॥ ६ ॥

हे मन्यो ! वज्र ! विनाशक ! जो तेरा पूजक वह साथ साथ सब शक्ति ओज प्राप्त करता
शक्तिप्रद साहसयुक्त शक्तिशाली तुम से मिलकर हम दास औ आर्यजनों को जीत सकें ॥१॥

हे मन्यु इन्द्र, मन्यु ही देव एवं मन्यु होता है अग्नि तथा सर्वज्ञ वरुण भी है
मानुषी प्रजा जो हैं, करती स्तुति मन्यु की हे मन्यो ! तप से हो प्रसन्न हमको पालो ॥२॥

हे शक्तिशालियों में सशक्त मन्यो ! आओ तप से मिलकर कर डालो नाश शत्रुओं का
हे शत्रुविनाशक ! वृत्रघ्न ! दस्युहन्ता ! दो हमें समस्त विभव-धन-सम्पत् पूर्णतया ॥३॥

हे मन्यो ! तुम करते अभिभूत ओज से हो हो स्वयम्प्रभव क्रोधी औ शत्रुविनाशक भी
तुम सर्व-दृष्टि, दृढ़ तथा शक्ति से संयुत हो सो हमें युद्ध-भूमि में ओज प्रदान करो ॥४॥

हे मन्यो ! तेरी पूजा में नहीं भाग लिया बिन पूजे बलशाली भी मैं पीछे लौटा
मैं तुम से यद्यपि क्रुद्ध तो भी मेरी काया से मिलकर मुझको शक्ति प्रदान करो ॥५॥

मैं तेरा हूँ, आओ, मेरे प्रति बढ़ आओ हे प्रतिरोधक ! हे जगपालक ! हे वज्रधारि !
मन्यो ! मेरे प्रति आओ, मारें दस्यु को अपने बन्धु-जन के प्रति सोच विचार करो ॥६॥

अ॒भि प्रेहि॑ दक्षिण॒तो भ॑वा॒ मेऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑ ।
जु॒होमि॑ ते ध॒रुणं॒ मध्वो॒ अग्र॑मु॒भा उ॑पां॒शु प्र॑थ॒मा पि॑बाव ॥ ७ ॥

आओ मेरे दक्षिण की ओर चले आओ
मैं तुमको देता मधु का श्रेष्ठ अंश धारक !

आओ हम दोनों वृत्रों को बहुशः मारें
पहले इसको दोनों मिलकर पीलें उपांशु ॥७॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही ।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन ॥ ३ ॥

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ४ ॥

यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ५ ॥

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम् ॥ ६ ॥

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ ७ ॥

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराऽग्निरासीत् पुरोगवः ॥ ८ ॥

सूर्या (सावित्री)

सत्य से पृथ्वी टिकी है सूर्य से अम्बर टिका
है टिके आदित्य घृत से सोम अम्बर में टिका ॥१॥

सोम से आदित्य बल- -शाली, महा भू सोम से
इस तरह नक्षत्रगण की गोद में स्थापित है सोम ॥२॥

पीस कर कोई लता यह मानता सोम-रस है पी लिया मैंने, मगर
जानते हैं ब्रह्मविद् जिस सोम को पी न पाता है कोई उस सोम को ॥३॥

गुप्त संरक्षित विधानों से तथा छन्द बृहती से सुरक्षित सोमदेव !
तुम खड़े हो सुन रहे पाषाण को मर्त्य पी पाता न है कोई तुम्हें ॥४॥

देव ! करते पान हैं तेरा जहां तू पुनः परिपूर्ण हो जाता वहां
सोम का रक्षक पवन है, चन्द्रमा वर्ष का निर्माण करता सर्वतः ॥५॥

रैभ्या देय दासी थी भृत्या नाराशंसी
भद्रवस्त्र सूर्या के गाथा से शोभित थे ॥६॥

तकिया विचारों का काजल थी दृष्टि बनी
मंजूषा गगन-पृथ्वी सूर्या पति निकट चली ॥७॥

स्तोत्र अरे पहियों के छन्द थी कुरीर साज
अश्विन् थे सूर्या-वर अग्निदेव पुरोगामी ॥८॥

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा ।
सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात् ॥ ९ ॥

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम् ॥१०॥

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः ।
श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥११॥

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्याऽऽरोहत् प्रयती पतिम् ॥१२॥

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
अघासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते ॥१३॥

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन् पुत्रः पितरावृणीत पूषा ॥१४॥

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥१५॥

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः ।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः ॥१६॥

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।
ये भूतस्य प्रचेतस इदं तेभ्योऽकरं नमः ॥१७॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परि यातो अध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥१८॥

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ॥१९॥

सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् ।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व ॥२०॥

सोम था वधू-काम
पति को सराहती
वर अश्विन्, मन ही मन
सूर्या दी सविता ने ॥९॥

मन ही वधू का रथ
शुक्र दो बैल बने
आवरण अम्बर था
सूर्या ससुराल चली ॥१०॥

ऋचा-साम ने जोड़े
श्रोत्र थे चक्र, मार्ग
बैल सम दूरी पर
गति-स्थिति-हेतु नभ ॥११॥

चलने पर चक्र विमल
सूर्या मनो-रथ चढ़
व्यान-वायु अक्ष बनी
पति के समीप चली ॥१२॥

सूर्या बारात चली
बैल हंके माघों में
सविता ने विदा किया
विदा हुई अर्जुनी में ॥१३॥

तीन चक्र के रथ पर सूर्या-विवाह का
सभी देवताओं ने स्वीकृति दी थी इसकी
लेकर के प्रस्ताव अश्विनी जब तुम आये
सुत पूषा ने तुम्हें जनक अपना माना था ॥१४॥

जब शुभस्पति आये
कहाँ था एक चक्र ?
सूर्या-हित दातृ-निकट
कहां टिके देने को ? ॥१५॥

सूर्ये ! तुम्हारे दो चक्र
जानते, गुह्य चक्र ज्ञात
विप्र ऋतुओं में
ऋषियों को ही ॥१६॥

सूर्या को देवों को
और जो प्राणि-विदू
मित्र-वरुण द्वन्द्व को
सबको हो नमस्कार ॥१७॥

ये दोनों माया से अन्योऽन्य-अनुगामी
एक सकल भुवनों का करता निरीक्षण, अन्य
खेलते बालक से यज्ञ में आते हैं
ऋतुएं बनाता बारबार जन्म लेता है ॥१८॥

होता उत्पन्न नित्य नूतन यह चन्द्रमा
आने पर देता है देवों को यज्ञभाग
दिनका प्रतीक आता उषा के आगे है
चन्द्रमा आयुष् को दीर्घतर बनाता है ॥१९॥

किंशुक के, शाल्मलिवृक्ष के, विश्व रूप,
सूर्ये ! इस अमृत-पद रथ पर आरूढहो
सुनहरी, रम्य-चक्र, सुन्दर मढ़े हुए
पति के हेतु वर-यात्रा सुखप्रद बना ॥२०॥

उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसुं नमसा गीर्भिरीळे ।
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि ॥२१॥

उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा ।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज ॥२२॥

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः ॥२३॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः ।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि ॥२४॥

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥२५॥

पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याऽश्विना त्वा प्र वहतां रथेन ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि ॥२६॥

इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाऽधा जिव्री विदथमा वदाथः ॥२७॥

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥२८॥

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु ।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥२९॥

अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।
पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते ॥३०॥

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु ।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥३१॥

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।
सुगेभिर्दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥३२॥

यह हुई पति-युता
विश्वावसु की प्रणाम-
उठो चलो दूर चलो
-स्तुति द्वारा वन्दना ॥२१॥

पितृ-गृह-वासिनी अलङ्कृत कुमारी को
उठो चलो विश्वावसु देव ! नमस्कार तुम्हें
ढूंढो, वह जानो है जन्म से तुम्हारा भाग
कन्या विपुलजघना अन्या को ढूंढ़ो, पति-हित छोड़ो पत्नी को ॥२२॥

पथ होंवे सरल और निष्कण्टक जिनसे मित्र
साथ-साथ ले चलें हमें अर्चना औ भग
हमारे अपनी वधुओं के घर जायें
हे देवों ! पत्नी-पति का संगम सुखकर हो ॥२३॥

वरुण-पाश से तुम्हें मुक्त करता मैं, जिससे
ऋत-स्थान में सुकृत-लोक में तुम्हें पति से
वरुण सवितृ-देव तुम्हें बांधे थे अब तक
युक्त बिना अड़चन-बाधा के करता हूँ मैं ॥२४॥

मुक्त करता मैं यहाँ से हूँ उसे
भूमयुत हे इन्द्र ! यह ताकि बने
न कि वहां से कि जहां करता सुबद्ध
सुष्ठु-पुत्रा और अच्छी भाग्य-शील ॥२५॥

हाथ पकड़े और पूषा ले चले
घर चलो गृहिणी बनो, तुम स्वामिनी
अश्विनी रथ में तुम्हें ले जाये अब
अब तुम्हीं सम्बोधना गृह-गोष्ठियाँ ॥२६॥

स्नेह सन्तति पर बढ़े तेरा, यहाँ
इस पति से देह दे अपनी मिला
स्वामिनी तुम गृहस्थ में हो जागरूक
साथ दोनों वृद्ध होकर गोष्ठियाँ सम्बोधना ॥२७॥

नील रक्त कृत्या की
बन्धु-वर्ग बढ़ा और
आसक्ति इससे हटी
पति बंधा बन्धन में ॥२८॥

देहमलिन वस्त्र छोड़
कृत्या पदधार घुसी
ब्राह्मण को सम्पद् दे
पत्नी बन पति-मन में ॥२९॥

देह हतप्रभ होती
पति वधू-वस्त्रों से
पापिन की छाया से
अंग चाहता ढांपे ॥३०॥

स्वर्णिम वधू-यात्रा के
लगे, उन्हें यज्ञ-देव
पीछे जो यक्ष्मादि
वापिस ले जाये वहीं ॥३१॥

दम्पती के पीछे लगे
सरल मार्ग से दुष्कर
चोर उसे पा न सके
पार करें, शत्रु भगें ॥३२॥

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन ॥३३॥

तृष्टमेतत् कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे ।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात् स इद्वाधूयमर्हति ॥३४॥

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति ॥३५॥

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ॥३६॥

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या ३ वपन्ति ।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥३७॥

तुभ्यमग्रे पर्यवहन् त्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥३८॥

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥३९॥

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥४०॥

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद्ग्नये ।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम् ॥४१॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥४२॥

आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा ।
अदुर्मङ्गलीः पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४३॥

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४४॥

वधू यह मंगलमयी
वितरित सौभाग्य करें
आयें, सब देखें इसे
लौटें अपने निवास ॥३३॥

यह तीखा कड़वा है
सूर्या का विज्ञाता
ज्वलित विषयुक्त सा
ब्रह्मा वधू-वस्त्र-योग्य ॥३४॥

किनारी-वस्त्र शिरोवस्त्र
रूप देख सूर्या के
वस्त्र'कटे छंटे
वस्त्र ब्रह्मा उतारता ॥३५॥

तेरा सौभाग्यहेतु हाथ लेता हूँ मैं
अर्यमा, सविता, पुरन्धि, भग देवों ने
साथ मुझ पति के प्राप्त वृद्धावस्था को हो
गृह-पतित्व के हेतु दिया है तुझे मुझे ॥३६॥

पूषन् ! इस शिवतमा पत्नी को प्रेरित कर
गोद का हमारी यह प्रेम-वश सहारा ले
जिसमें मनुष्य प्राण-बीज को बोते हैं
इससे हम प्रेम-वश सुरत-क्रीड़ा करें ॥३७॥

तुम्हें प्रथम दिया
अग्ने ! फिर सन्तति-युत
अलंकरण-सहित सूर्या को
पत्नी दो पति के प्रति ॥३८॥

अग्नि ने आयु-तेज-
इसका पति दीर्घायु
-सहित दी पत्नी फिर
जिये शत संवत्सर ॥३९॥

प्रथम सोम ने पाया
अग्नि पति था तृतीय
पुनः गन्धर्व ने
चौथा मनुष्य-पुत्र ॥४०॥

सोम ने गन्धर्व को
अग्नि ने धन और
गन्धर्व ने दी अग्नि को
पुत्रों के सहित दे दी मुझे ॥४१॥

तुम यहीं रहना बिछुड़ना मत कभी
पुत्र पौत्रों बीच उनसे खेलते
पूर्ण आयु नित्य रहना साथ साथ
निज निवास स्थान में दोनों प्रसन्न ॥४२॥

दे प्रजापति हमें सन्तति, अर्यमा
तुम अमंगल से रहित पतिगृह चलो
साथ रक्खें वृद्ध-आयु तक हमें
सुख द्विपादों चतुष्पादों हेतु दो ॥४३॥

हो न दृष्टि चण्ड, न पति के विरुद्ध
वीर-जननी देव-पूजक सुखप्रदा
पशु-प्रेमी, करुण, कीर्त्तिशालिनी
सुख द्विपादों चतुष्पादों हेतु दो ॥४४॥

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि ॥४५॥

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥४६॥

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ ॥४७॥

इन्द्र ! मघवन् ! तुम इसे
सौभाग्य और सपूत दो
पुत्र देना दस इसे
करना पति को ग्यारवां ॥४५॥

सास की रानी बनो
रानी ससुर की भी बनो
रानी बनो देवर जनों की
ननद की रानी बनो ॥४६॥

देव सारे, देव जल, और मातरिश्वा, धातृदेव
शारदा दात्री हमारे दें हृदय-द्वय को मिला ॥४७॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

तस्माद्विराळजायत विराजो अधि पूरुषः ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

सहस्र-भाल सहस्र-नेत्र
सब ओर से भू घेर कर
सहस्र-पाद पुरुष हुआ
अतिक्रान्त दशअंगुल किया ॥१॥

सब ही पुरुष है जो विगत
वह ईश है अमरत्व का
है और जो भावी पुनः
जो अन्नहित बढ़ता अति ॥२॥

महिमा पुरुष की है यही
एक पाद उसका सर्व जग
इससे बड़ा है वह स्वयम्
अमर त्रिपाद स्वर्ग में ॥३॥

ऊर्ध्वग त्रिपाद पुरुष हुआ
वह व्याप्त चारों ओर है
एक पाद है उसका यहाँ
साहार विगताहार में ॥४॥

उससे विराट् उत्पन्न है
उत्पन्न हो प्रकटित हुआ
उत्पन्न पुरुष विराट् से
फिर सृष्ट की भू और पुर ॥५॥

लेकर पुरुष-हवि देव-
उसमें बनी घृत सुरभि ऋतु
-ताओं ने रचाया यज्ञ जो
औ ग्रीष्म ईंधन शरद् हवि ॥६॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः ॥१०॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥११॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥१३॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥१४॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥१६॥

अग्रजन्मा मखपुरुष को
साध्य देवों और ऋषियों
दर्भ पर मन्त्रित किया
ने रचाया यज्ञ वह ॥७॥

सर्वहुत उस यज्ञ से
वायव्य पशु, जंगली तथा
दधियुक्त घृत पैदा हुआ
जो पालतू वे भी बने ॥८॥

सर्वहुत उस यज्ञ से ऋक्
पैदा उसी से छन्द, उससे
साम भी पैदा हुए
ही यजुष् पैदा हुआ ॥९॥

अश्व और दो दन्त-पंक्ति-
उससे हुई गौएं, उसी
-युक्त भी उससे हुए
से भेड़-बकरी भी हुईं ॥१०॥

जब पुरुष बांटा गया
क्या बना मुख क्या भुजा
कितने विभागों में बंटा ?
क्या थे उरु क्या पाद थे ? ॥११॥

मुख बना ब्राह्मण तथा
उरु बने थे वैश्य एवं
क्षत्रिय बनीं उसकी भुजा
शूद्र जन्मा पांद से ॥१२॥

चन्द्रमा मन से बना
अग्नि एवं इन्द्र मुख से
और चक्षुओं से रवि बना
प्राण से वायु बना ॥१३॥

नाभि से नभ शीर्ष से
पाद से भू, औ दिशायें
द्युलोक जन्मा पुरुष के
श्रोत्र से, यूं जग बना ॥१४॥

सप्त इसकी परिधियां
देवगण जब यज्ञ में
इक्कीस समिधायें बनीं
थे पुरुष-पशु को बांधते ॥१५॥

यज्ञ यज्ञ से किया देव-
वे महिमा को उपलब्ध, स्वर्ग
-वृन्दों ने, वे थे प्रथम धर्म
में गये जहाँ है पूर्व साध्य देवता ॥१६॥

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ १ ॥

प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ २ ॥

उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ३ ॥

उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम् ।
कुवित्सोमस्यापामिति ॥ ४ ॥

अहं तष्टेव वन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम् ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ५ ॥

नहि मे अक्षिपच्चनाऽच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ६ ॥

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ७ ॥

मैं यह कर दूँ या यह कर दूँ
दे दूँ गायें एवं घोड़े
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ॥१॥

झकझोरे चण्ड प्रभंजन ज्यों
यह पिया हुआ करता प्रमत्त
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ॥२॥

यह पिया हुआ करता प्रमत्त
ज्यों करते रथ को तेज अश्व
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ॥३॥

मुझ तक आयी है स्तुति ऐसे
ज्यों प्रिय बछड़े के पास गौ
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ॥४॥

मैं दोहराता स्तुति मन ही मन
जैसे बढ़ई रन्दा फेरे
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ॥५॥

मेरी आंखों की दृष्टि से
बच सकी नहीं जातियाँ पाँच
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ॥६॥

यह भूमि और आकाश, उभय
मेरे एक पक्ष-समान नहीं
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ॥७॥

अभि द्यां महिना भुवमभीऽमां पृथिवीं महीम् ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ८ ॥

हन्ताहं पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥ ९ ॥

ओषमित् पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥१०॥

दिवि मे अन्यः पक्षोऽधो अन्यमचीकृषम् ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥११॥

अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥१२॥

गृहो याम्यरंकृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः ।
कुवित् सोमस्यापामिति ॥१३॥

मैं महिमा में नभ से ऊँचा
मैं महामहिम मही से महान्
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ।।८।।

रख दूँ पृथ्वी को यहाँ हन्त !
या रख दूँ पृथ्वी वहां हन्त !
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ।।९।।

जलती पृथ्वी को यहां रखूँ
या जलती पृथ्वी वहां रखूँ
मैं सोमपान कर बैठा हूँ।।१०।।

यह गगन पंख है एक मेरा
दूसरा किया मैंने नीचे
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ।।११।।

मैं महामहिम हूँ मुझे अभी
है गया उठाया अम्बर तक
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ।।१२।।

हवि लेकर मैं हूँ सजा हुआ
जा रहा देव-गण की हवि ले
मैं सोमपान कर बैठा हूँ ।।१३।।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥

क (प्रजापति) हिरण्यगर्भ (प्राजापत्य) ऋ० १०, १२१

प्रथम था प्रजापति, उत्पन्न- -मात्र जो पति प्रजा का एक
धारता वही धरा आकाश सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥१॥

शक्तिदाता जो आत्मद सर्व देव जिसके आज्ञावशवर्ती
मृत्यु-अमृत हैं जिसकी छांव सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥२॥

श्वास-निश्वास निमेषोन्मेष- -युक्त जग का महिम प्रभु एक
दुपायों चौपायों का ईश सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥३॥

हैं जिसके महिमा से हिमवन्त हैं जिसके सरित-सहित जलनिधि
बनी हैं जिसकी बाहें दिशा सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥४॥

है जिससे उग्र द्यौ, दृढ़ धरा थामता जो प्रकाश औ स्वर्ग
मापता अन्तरिक्ष में लोक सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥५॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान ।
यश्चापश्चन्द्रा बृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ९ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१०॥

टिके जिसकी रक्षा पर धरा-
है जिनके बीच उदित रविदीप्त
-गगन देखते जिसे सामोद
सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥६॥

बृहत् जल आया धारे विश्व-
उसी से जन्मा देव-प्राण
-गर्भ को अग्नि का जनक
सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥७॥

स्वमहिमा से जिसने मखजनक
एक जो देवों में अधिदेव
दक्ष-धारक देखा जल स्वयम्
सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥८॥

हमें मत पीड़ा दे जो भूमि-
बृहत् औ रम्य सलिल का जनक
-सृजक ऋत-धर्मा द्यौ का जनक
सुखप्रद देव-हेतु दें हवि ॥९॥

प्रजापति ! न तेरे अतिरिक्त
हमारे यज्ञ त्वदर्थक पूर्ण-
प्राणियों को घेरे हैं अन्य
-काम हों हम धन के पति बने ॥१०॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते ॥ २ ॥

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥ ३ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥ ४ ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥ ७ ॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ८ ॥

विचरण करती रुद्रवृन्द औ वसुवृन्द के साथ मैं विश्वदेव औ आदित्यों के संग विचरती
मैं धारण करती मित्र-वरुण का द्वन्द्व इन्द्र-अग्नि का युगल तथा अश्विनी-देव-द्वय ॥१॥

मैं त्वष्टा को, पूषा को, भग को अपरंच शत्रु-विनाशक सोम-देव को करती धारण
मैं देती धन उस यजमान हविर्दाता को जो अर्पित करता रस, रक्षा का अधिकारी ॥२॥

मैं सम्राज्ञी कोषों को करती एकत्रित मैं विज्ञात्री यज्ञार्हों में अग्रगण्य हूँ
ऐसी मुझको देवों ने सर्वत्र रखा है मैं अनेक स्थान-स्थ अनेकों में प्रविष्ट हूँ ॥३॥

जो खाता है अन्न, मुझ ही से, जो कोई भी देख रहा है, श्वास ले रहा, या सुनता है
जो मुझको मानते नहीं वे मिट जाते हैं हे श्रोता ! सुन मैं श्रद्धेय बताती तुझको ॥४॥

मैं मनुष्य और देवगणों द्वारा संसेवित बात तुम्हें यह स्वयं आज बतला देती हूँ
मैं जिसको चाहती उसे बलवान् बनाती उसे बनाती ब्राह्मण और ऋषि और मनीषी ॥५॥

मैं रुद्रार्थ खींचती धनुष मारने हेतु उन्हें कि जो ब्रह्म-द्वेषी घातक शत्रु हैं
मैं लोगों के लिये समद संग्राम रचाती मैं द्यावा-पृथिवी में हो जाती समाविष्ट ॥६॥

मैं उसकी मूर्धा में जन्म पिता को देती मेरा जन्म-स्थान जलधि में जल के अन्दर
मैं हो जाती व्याप्त जहां से निखिल भुवन में छू लेती हूँ निज काया से उस अम्बर को ॥७॥

जैसे बहती वायु उसी भांति मैं बहती निखिल भुवन को मैं ही रूप प्रदान कर रही
मैं पृथ्वी से परे, स्वर्ग से भी अतीत हूँ मैं महिमा-गौरव से इतनी विपुल-काय हूँ ॥८॥

नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥ २ ॥

न था तब असत् न था सद्-भाव
न, लोक, व्योम, न व्योमातीत
कहां ? किसके सुख हेतु ? कौन
आवरण ? जल था गहन गंभीर ? ॥१॥

न थी तब मृत्यु, न अमृत-भाव
न दिन का और निशा का चिह्न
एक निर्वात स्वधा से श्वसित
न था कुछ भी उसके अतिरिक्त ॥२॥

तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ३ ॥
कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥ ४ ॥
तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् त्स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् ॥ ५ ॥
को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ॥ ६ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥

तमस् था तम से आवृत प्रथम
एक जो था तुच्छावृत आभु
सभी था सलिल-मात्र अज्ञेय
हुआ तप-महिमा से उत्पन्न ।।३।।

जागृत प्रथम कामना हुई
हृदय में बुद्धि से कवि-वृन्द
बनी जो मन का पहला बीज
असत् में खोज सके सद्-बन्धु ।।४।।

वक्र फैली इनकी रश्मियां
बीजधारी थे महिमावन्त
गई कुछ नीचे औ कुछ ऊर्ध्व
स्वधा निकृष्ट प्रयति उत्कृष्ट ।।५।।

कौन जाने ? कह सकता कौन ?
देव जन्मे सर्जन के बाद
कहां से जन्मा यह संसार ?
कहां से जन्मा, जाने कौन ? ।।६।।

हुआ जिससे यह जग उत्पन्न
परम नभ में इसका अध्यक्ष
धारता वह यदि, या यदि नहीं
जानता वह प्रिय ! या यदि नहीं ।।७।।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ २ ॥

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥ ३ ॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥ ४ ॥

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥ ५ ॥

श्रद्धा (कामायनी)

ऋ० १०, १५१

होती समिद्ध श्रद्धा से अग्नि
श्रद्धा से हवि दी जाती है
भग की मूर्धा पर श्रद्धा की
वाणी से हम स्तुति करते हैं ।।१।।

श्रद्धे ! दो इष्ट प्रदाता को
दो उसे इष्ट जो दित्सु है
दो इष्ट सुखेच्छुक याजक को
जो मैंने कहा करो पूरा ।।२।।

जैसे असुरों से होने पर
रण, देवों ने श्रद्धा की थी
वैसे सुखेच्छु याचक के प्रति
जो हमने कहा करो पूरा ।।३।।

यजमान, वायु से संरक्षित
देवता पूजते हैं श्रद्धा
सच्ची हार्दिक अभिलाषा से
श्रद्धा से धन पाता है जन ।।४।।

प्रातः हम श्रद्धा बुला रहे
श्रद्धा को ही मध्याह्न-काल
श्रद्धा को ही सूर्यास्त-समय
हे श्रद्धे ! दो विश्वास हमें ।।५।।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १ ॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ २ ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ३ ॥
ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितॄन् तपस्वतो यमस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ ४ ॥
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ ५ ॥

यमी (वैवस्वती)

सोम एक के लिये छानते
जिनके लिये मधु बहता है
करते एक घृत स्वीकार
उनके भी तुम जाओ पास ॥१॥

जो अजेय है तप के कारण
किया जिन्होंने तप महान है
तप के द्वारा स्वर्ग गये
उनके भी तुम जाओ पास ॥२॥

जो लड़ते हैं घमासान
या जो देते बहुत दक्षिणा
रण में शरीर तजते जो वीर
उनके भी तुम जाओ पास ॥३॥

जो पूर्वज ऋत के अनुयायी
हे यम ! पितर तपस्वी हैं जो
ऋत-धारी ऋत-वर्धक हैं
उनके भी तुम जाओ पास ॥४॥

कविगण नेता जो सहस्र के
हे यम ! ऋषि तपस्वी हैं जो
रक्षक सूर्य लोक के हैं
उनके भी तुम जाओ पास ॥५॥

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत ।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

अघमर्षण (मधुच्छन्दस्)

चण्ड तप से उद्भूत
ऋत एवं सत्य-वाक्
उससे उत्पन्न रात्रि
उससे जलपूर्ण जलधि ॥१॥

जलधि जलपूर्ण से
संवत्सर जन्मा जो
क्षण क्षण का स्वामी
निर्माता दिन-रात का ॥२॥

स्रष्टा ने यथापूर्व
सूर्य-चन्द्रमा के बाद
निर्मित आकाश भूमि
अन्तरिक्ष स्वर्ग किये ॥३॥

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १ ॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

संवनन (आङ्गिरस)

हे शक्तियुत अग्ने ! सभी से
तुम वेदि पर संदीप्त हो
तुम हुए संयुक्त हो
दो सम्पदा हमको प्रभो ! ॥१॥

हो साथ साथ गमन तथा
ज्यों एक-मन हो पूर्ववर्ती
संलाप, मन हो एकरस
देव निज यज्ञांश हैं पाते रहे ॥२॥

मन्त्र होवे एक, समिति एक ही
सम-मन्त्र देता हूँ तुम्हें मैं
मन एक हो, हो चित्त एकाकार
सम-हवि तुम्हारी ले रचाता अर्चना मैं ॥३॥

सम हों तुम्हारे भाव
मन हों तुम्हारे एक
हृदय अभिन्न हों
कि मिलजुल रहो ॥४॥

By the same Author

JAINA ETHICS

It embodies a *comprehensive and systematic study* of the Jaina view of life. The author treats the concept of self (empirical and transcedental), non-self, misery, karmic matter, removal of misery and liberation in a *clear, lucid, and precise analysis*. He has also discussed the ethical thought of the six systems of Indian philosophy and Buddhism wherever relevant. *Jaina Ethics is not only a scholarly contribution to Jaina studies, but also to Indian philosophy in general.*

—Donald W. Mitchwell, University of Hawaii

The author has displayed commendable grasp *of the subject coupled with critical approach.* The Bibliography and the Index add much to the usefulness of the book.

—*Vidyabhavan*, Bombay

The Adyar Library Bulletin, Vol. XXXV, Parts 3-4, 1971

Based on original sources, the present study is *deep and thorough*; the ethical thought of the Jainas is compared with that of the other systems of Indian philosophy; the metaphysical concepts of the Jainas with which the ethical thought is basically connected are also discussed.

—K. K. Raja

JAINA TARKA
JAINA TARKA-BHASA
(Text and translation)

The author's *keen philosophical insight* and the *analytical mode of thinking* have gone a long way in making this translation and annotations both scholarly and useful.

—R. C. Pandey
Prof. & Head of the Dept. of Philosophy
University of Delhi
Delhi-7